

## श्रीमद् भगवद्गीता

### श्रीगीता महिमा

(श्री दीनानाथ 'दिनेश' जी की हरिगीता से)

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।

देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥२॥

गीता हृदय भगवान का सब ज्ञान का शुभ सार है ।

इस शुद्ध गीता ज्ञान से ही चल रहा संसार है ॥१॥

गीता परमविद्या सनातन कर्म शास्त्र प्रधान है ।

परब्रह्म रूपी मोक्षकारी नित्य गीता-ज्ञान है ॥२॥

यह मोह माया कष्टमय तरना जिसे संसार हो ।

वह बैठ गीता नाव में सुख से सहज में पार हो ॥३॥

संसार के सब ज्ञान का यह ज्ञानमय भंडार है ।

श्रुति, उपनिषद, वेदान्त-ग्रन्थों का परम शुभ सार है ॥४॥

गाते जहां जन नित्य 'हरिगीता' निरंतर नेम से ।

रहते वही सुख-कन्द नटवर नन्द-नन्दन प्रेम से ॥५॥

गाते जहां जन गीत-गीता प्रेम से धर ध्यान हैं ।

तीरथ वहीं भव के सभी शुभ शुद्ध और महान हैं ॥६॥

धरते हुए जो ध्यान, गीता-ज्ञान का तन छोड़ते ।

लेने उसे माधव मुरारी आप ही उठ दौड़ते ॥७॥

सुनते-सुनाते नित्य जो लाते इसे व्यवहार में ।

पाते परम-पद ठोकरे खाते नहीं संसार में ॥८॥

Download complete HariGita from:

[www.gita-society.com/language/hindi.htm](http://www.gita-society.com/language/hindi.htm)

## तीसरा अध्याय

अर्जुन बोले—

यदि हे जनार्दन, कर्म से भी बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो तो फिर भयंकर कर्म में, मुझको लगाते क्यों कहो? उलझन भरे से वाक्य, भ्रम-सा डालते भगवान हो वह बात निश्चय कर कहो, जिससे मुझे कल्याण हो श्रीभगवान् बोले—

पहले कही दो भाँति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से आरम्भ बिन ही कर्म के, निष्कर्म हो जाते नहीं सब कर्म के ही त्याग से, कभी सिद्धि जन पाते नहीं बिन कर्म रह पाता नहीं, कोई पुरुष पल भर कभी हो प्रकृति-गुण आधीन, करने कर्म पड़ते हैं सभी कर्मेन्द्रियों को रोक जो मन से विषय-चिन्तन करे वह मूढ़ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे जो रोक मन से इन्द्रियाँ, आसक्ति बिन हो नित्य ही कर्मेन्द्रियों से कर्म करता, श्रेष्ठजन अर्जुन, है वही बिन कर्म से नित श्रेष्ठ, नियमित-कर्म करना धर्म है बिन कर्म के तन भी न सधता, कर नियत जो कर्म है तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन, पार्थ, हैं अतएव तज आसक्ति, सब कर कर्म जो यज्ञार्थ हैं विधि ने प्रजा के साथ, पहिले यज्ञ को रच के कहा—

‘पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा’ १०

यज्ञ से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा यज्ञ-तृप्त हो सुर, कामना, पूरी करेंगे नित्य ही उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही जो यज्ञ में दे भाग खाते, पाप से छुटकर तरें तन हेतु जो पापी पकाते, पाप भक्षण वे करें सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से यह वृष्टि होती यज्ञ से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी, ब्रह्म नित ही रम रहा चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार है पापायु इन्द्रिय-लम्पटी, वह व्यर्थ ही भू-भार है जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म-तृप्त विशेष है संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है उसको न कोई लाभ है, करने न करने से कहीं हे पार्थ, प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं अतएव तज आसक्ति, कर कर्तव्य कर्म सदैव ही यों कर्म जो करता परमपद प्राप्त करता है वही जनकादि ने भी सिद्धि पाई, कर्म ऐसे ही किये फिर लोकसंग्रह देखकर भी कर्म करना चाहिये २० जो कार्य करते श्रेष्ठ जन, करते वही हैं और भी उनके प्रमाणित-पंथ पर ही, पैर धरते हैं सभी

अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी आलस्य तज के पार्थ, मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं सब भाँति मेरा अनुकरण, ही नर करेंगे सब कहीं यदि छोड़ दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ज्यों मूढ़ मानव कर्म करते, नित्य कर्मासक्त हो त्यों लोकसंग्रह हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ज्ञानी न डाले भेद, कर्मासक्त की मति में कभी वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी होते प्रकृति के ही गुणों से, सर्व कर्म विधान से मैं कर्म करता, मूढ़ मानव मानता अभिमान से गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता होता न वह आसक्त, गुण का खेल गुण में मानता गुण कर्म में आसक्त होते, प्रकृतिगुण मोहित सभी उन मन्द मूढ़ों को करें, विचलित न ज्ञानी जन कभी अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो फल-आश ममता छोड़कर, निश्चित होकर फिर लड़ो ३० जो दोष-बुद्धि विहीन मानव, नित्य श्रद्धायुक्त हैं मेरे सुमत अनुसार, करके कर्म वे नर मुक्त हैं जो दोष-दर्शी मूढ़मति, मत मानते मेरा नहीं वे सर्वज्ञान-विमूढ़ नर नित नष्ट जानों सब कहीं वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी अपने विषय में इन्द्रियों को, राग भी है, द्वेष भी ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिए आना कभी ऊँचे सुलभ पर-धर्म से निज विगुण धर्म महान् है परधर्म भयप्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है अर्जुन बोले—

भगवन्, कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है फिर कौन बल से खींचकर, उससे कराता पाप है श्रीभगवान् बोले—

पैदा रजोगुण से हुआ, यह काम ही यह क्रोध ही पेटूँ महा पापी कराता, पाप है वैरी यही ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुँए से आग, शीशा धूल से यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी आमूल से यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है इससे ढका कौन्तेय, सारे ज्ञानियों का ज्ञान है मन, इन्द्रियों में, बुद्धि में, यह वास वैरी नित करे इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्मा को मोहित करे ४० इन्द्रिय-दमन करके करो, फिर नाश शत्रु महान का पापी सदा यह नाशकारी, ज्ञान का, विज्ञान का हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ, मन मानो परे मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे

यों बुद्धि से आत्मा परे है, जान इसके ज्ञान को  
मन वश्य करके जीत, दुर्जय काम शत्रु महान् को ४३

ॐ तत्सदिति तृतीयोऽध्यायः

तज धर्म सारे एक मेरे ही शरण को प्राप्त हो  
मैं मुक्त पापों से करूँगा, तू न चिन्ता व्याप्त हो

नवां अध्याय

श्रीभगवान् बोले—

अब दोषदर्शी तू नहीं यों, गुप्त सह-विज्ञान के  
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जानके  
यह राजविद्या, परम गुप्त पवित्र, उत्तम ज्ञान है  
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख-खान है  
श्रद्धा न जिनको पार्थ, है इस धर्म के शुभ सार में  
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में  
अव्यक्त अपने रूप से, जग व्याप्त मैं करता सभी  
मुझमें सभी प्राणी समझ, पर मैं नहीं उनमें कभी  
मुझमें नहीं है भूत देखो योग-शक्ति प्रभाव है  
उत्पन्न करता, पालता, उनसे न किन्तु लगाव है  
सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भाँति से  
मुझमें सदा ही है समझ सब भूतगण इस भाँति से  
कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी  
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी  
अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण को मैं सदा  
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा  
बन्धता नहीं हूँ पार्थ, मैं इस कर्म-बन्धन में कभी  
रहकर उदासी-सा सदा आसक्ति तज करता सभी  
अधिकार से मेरी प्रकृति रचती चराचर विश्व है  
इस हेतु फिर की तरह फिरता बराबर विश्व है .. १०  
मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहीं जान के  
करते अवज्ञा जड़, मुझे नर-देहधारी मान के  
चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किए  
वे आसुरी अति राक्षसी स्वभाव मोहात्मक लिए  
दैवी प्रकृति के आसरे, बुध-जन भजन मेरा करें  
भूतादि अव्यय जान पार्थ, अनन्य मन से मन धरें  
नित यत्न से कीर्तन करें, दृढ़ व्रत सदा धरते हुए  
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए  
कुछ भेद और अभेद से, कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से  
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से  
मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ  
घृत, औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ  
जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ  
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओंकार हूँ  
पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ  
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवास स्थान हूँ  
मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करत कभी  
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी, मैं सत् असत् अर्जुन सभी

जो सोमपा त्रैविद्य-जन, निष्पाप अपने को किए  
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं, स्वर्ग-इच्छा को लिए  
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में  
फिर दिव्य देवों के अनोखे भोग भोगें स्वर्ग में ... २०  
वे भोगकर सुख-भोग को, इस स्वर्गलोक विशाल में  
फिर पुण्य बीते आ फँसे इस लोक के दुख जाल में  
यों तीन वेदों में कहे जो कर्मफल में लीन हैं  
वे कामना-प्रियजन सदा आवागमन आधीन हैं  
जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य-भावापन्न हो  
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग-क्षेम प्रसन्न हो  
जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हो  
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ, पर विधि-हीन हो  
सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ, मैं ही हूँ सभी  
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से, गिरते तभी  
सुरभक्त सुर को, पितृ को पाते पितर-अनुरक्त हैं  
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं  
अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से  
लेता प्रयत्न-चित्त भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से  
कौन्तेय, जो कुछ भी करो, तप यज्ञ आहुति दान भी  
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी  
हे पार्थ, यों शुभाशुभ फल-प्रद, कर्म-बन्धन-मुक्त हो  
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास-योग-नियुक्त हो  
द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा  
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा  
यदि दुष्ट भी भजता अनन्य भक्ति को मन में लिए  
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिए .. ३०  
वह धर्मयुत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं  
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं  
पाते परम-पद पार्थ, पाकर आसरा मेरा सभी  
जो अड़ रहे हैं पाप-गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी  
फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है  
मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है  
मुझमें लगा मन भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना  
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना ... ३४

ॐ तत्सदिति नवमोऽध्यायः

तज धर्म सारे एक मेरे ही शरण को प्राप्त हो  
मैं मुक्त पापों से करूँगा, तू न चिन्ता व्याप्त हो

बारहवाँ अध्यायः

अर्जुन बोले—

अव्यक्त को भजते, या जो धरते तुम्हारा ध्यान हैं  
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान् हैं?

श्री भगवान् बोले—

कहता उन्हें मैं श्रेष्ठ, मुझमें चित्त जो धरते सदा  
जो युक्त हो श्रद्धा-सहित मेरा भजन करते सदा

अव्यक्त, अक्षर, अकथनीय, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को  
 भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम सर्वव्यापी रूप को  
 सब इन्द्रियाँ साधे सदा समबुद्धि ही धरते हुए  
 पाते मुझे वे पार्थ, प्राणीमात्र हित करते हुए  
 अव्यक्त में आसक्त जो, होता उन्हें अति क्लेश है  
 पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है  
 हो मत्परायण कर्म सब, अर्पण मुझे करते हुए  
 भजते सदैव अनन्य मन से, ध्यान जो धरते हुए  
 मुझमें लगाते चित्त, उनका शीघ्र कर उद्धार मैं  
 इस मृत्युमय संसार से, बेड़ा लगाता पार मैं  
 मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं  
 मुझमें मिलेगा फिर तभी, इसमें कभी संशय नहीं  
 मुझमें धनंजय, जो न ठीक से मन पाओ बसा  
 अभ्यासयोग प्रयत्न से मेरी लगालो लालसा  
 अभ्यास भी होता नहीं, तो कर्म कर मेरे लिए  
 सब सिद्धि होगी कर्म भी, मेरे लिए अर्जुन, किए .. १०  
 यह भी न हो तब आसरा, मेरा लिए कर योग ही  
 कर चित्त-संयम कर्मफल के त्याग सारे भोग ही  
 अभ्यास-पथ से ज्ञान उत्तम, ज्ञान से गुरु ध्यान है  
 गुरु ध्यान से फलत्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है  
 बिन द्वेष, सारे प्राणियों का मित्र, करुणावान् हो  
 सम दुःख-सुख में, मद न ममता, क्षमाशील महान् हो  
 जो तुष्ट नित मन बुद्धि से, मुझमें हुआ आसक्त है  
 वृद्ध निश्चयी है संयमी, प्यारा मुझे वह भक्त है  
 पाते न जिससे क्लेश जन, उनसे न पाता आप ही  
 भय क्रोध हर्ष विषाद बिन, प्यारा मुझे है जन वही  
 जो शुचि, उदासी, दक्ष है, जिसको न दुख बाधा रही  
 इच्छा-रहित, आरम्भ-त्यागी, भक्त प्रिय मुझको वही  
 करता न द्वेष, न हर्ष जो, बिन शोक है बिन कामना  
 त्यागे शुभाशुभ फल वही, है भक्त प्रिय मुझको घना  
 सम शत्रु मित्रों से सदा, अपमान मान समान है  
 शीतोष्ण सुख-दुख सम जिसे, आसक्ति बिन मतिमान है  
 निन्दा प्रशंसा सम जिसे, मौनी सदा संतुष्ट ही  
 अनिकेत निश्चल बुद्धिमय, प्रिय भक्त है मुझको वही  
 जो मत्परायण इस सुधामय धर्म में अनुरक्त है  
 वे नित्य श्रद्धावान् जन, मेरे परम प्रिय भक्त हैं .. २०

ॐ तत्सदिति द्वादशोऽध्यायः

तज धर्म सारे एक मेरे ही शरण को प्राप्त हो  
 मैं मुक्त पापों से करूँगा, तू न चिन्ता व्याप्त हो

पन्द्रहवां अध्याय

श्री भगवान् बोले—

है मूल ऊपर, शाख नीचे, पत्र जिनके वेद हैं  
 वे वेदवित् जो जानते अश्वत्थ-अव्यय भेद हैं  
 पल्लव विषय, गुण से पत्नी अध-ऊर्ध्व शाखा छा रहीं  
 नर-लोक में नीचे जड़ें, कर्मानुबन्धी जा रहीं

उसका यहाँ मिलता स्वरूप, न आदि मध्याधार से  
 वृद्धमूल यह अश्वत्थ काट असंग शास्त्र-प्रहार से  
 फिर वह निकालो ढूँढकर, पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से  
 कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से  
 मैं शरण उसकी हूँ, पुरुष जो आदि और महान है  
 उत्पन्न जिससे सब पुरातन, यह प्रवृत्ति-विधान है  
 जीता जिन्हों ने संग-दोष, न मोह जिनमें मान है  
 मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म-ज्ञान प्रधान है  
 जिनमें न कोई कामना, सुख-दुःख और न द्वन्द्व ही  
 अव्यय परमपद को सदा, ज्ञानी पुरुष पाते वही  
 जिसमें न सूर्य प्रकाश, चन्द्र न आग ही का काम है  
 लौटे न जन जिसमें पहुँच, मेरा वही परधाम है  
 इस लोक मे मेरा सनातन अंश है यह जीव ही  
 मन के सहित छः प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही  
 जब जीव लेता देह, अथवा त्यागता सम्बन्ध को  
 करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गन्ध को  
 रसना, त्वचा, दृग, कान, एवं नाक मन-आश्रय लिए  
 यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किए  
 जाते हुए तन त्याग, रहते, भोगते गुणयुक्त भी  
 जानें न इसको मूढ़ मानव, जानते ज्ञानी सभी ... १०  
 कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते  
 पर यत्न करके भी न मूढ़, अशुद्ध आत्मा जानते  
 जिससे प्रकाशित है जगत, जो तेज दिव्य दिनेश में  
 वह तेज मेरा तेज है, जो अग्नि में राकेश में  
 क्षिति में बसा निज तेज से, मैं प्राणियों को धर रहा  
 रस रूप होकर सोम, सारी पुष्ट औषधि कर रहा  
 मैं प्राणियों में बस रहा, हो रूप वैश्वानर महा  
 पाचन चतुर्विध अन्न, प्राणापान-युत होकर रहा  
 सुधि ज्ञान और अपोह मुझसे, मैं सभी में बस रहा  
 वेदान्तकर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा  
 इस लोक में क्षर और अक्षर, दो पुरुष हैं सर्वदा  
 क्षर सर्व भूतों को कहा, कूटस्थ है अक्षर सदा  
 कहते जिसे परमात्मा, उत्तम पुरुष इनसे परे  
 त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय, सर्व जग पोषण करे  
 क्षर और अक्षर से परे, मैं श्रेष्ठ हूँ संसार में  
 इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में  
 तज मोह पुरुषोत्तम मुझे, जो पार्थ, लेता जान है  
 सब भौति वह सर्वज्ञ हो, भजता मुझे मतिमान् है  
 मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है  
 यह जानकर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है २०

ॐ तत्सदिति पञ्चदशोऽध्यायः

तज धर्म सारे एक मेरे ही शरण को प्राप्त हो  
 मैं मुक्त पापों से करूँगा, तू न चिन्ता व्याप्त हो

This is suitable for 1.5 hour gita reading  
 with Bhajan-kirtan